

समकालीन कविता की संवेदना: वर्चस्व और प्रतिरोध के धरातल

Rubina Saife

Research Scholar and Freelancer Writer, Doctorate from SLL&CS, JNU, Delhi, India

प्रस्तावना

समकालीन कविता जिस समय और संसार की रचना करती है, उसमें जातीय, लैंगिक और सांप्रदायिक प्रक्रियाएं और संचरणाएं किस स्वरूप में उजागर होती हैं या नहीं होती हैं। उनका उजागर नहीं होना भी, वर्चस्व का ही एक रूप है और इस लिहाज से यह शोध पत्र इस पर भी गौर करेगा। इसकी शुरुआत भूमंडलीकरण और इसकी वैचारिकी को लेकर समकालीन कविता की प्रतिक्रिया पर विचार किया जाएगा, क्योंकि जैसा कि हम देख चुके हैं, भूमंडलीकरण की प्रक्रिया समकालीन कविता के काल में ही शुरू हुई और यह एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसने वर्चस्व और प्रतिरोध के सभी पहलुओं पर अपना मूलगामी प्रभाव छोड़ा है।

भूमंडलीकरण और उसकी वैचारिकी

अस्सी के दशक की शुरुआत से ही संभवतः भूमंडलीकरण सबसे ज्यादा चर्चित शब्द और 'भूमंडलीकरण के दौर में' सबसे ज्यादा इस्तेमाल में लाया जाने वाला पदबंध होगा। समाज का हर तबका इससे प्रभावित है: वह भी जो इसमें विकास और मुक्ति की उम्मीद देख रहा है और वह भी जो इसे इस दौर के सबसे बड़े खतरे के रूप देखता है। भूमंडलीकरण एक व्यापक प्रक्रिया है, और एक विचार तो वह है ही। हालांकि इसका मुख्य संबंध आर्थिक नीतियों और राजनीतिक संरचना से है, लेकिन इसका प्रभाव सार्वजनिक और निजी जीवन के हर क्षेत्र में पड़ रहा है।

भूमंडलीकरण एक आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक नीति का प्रतिनिधित्व करता है। यह एक ऐसी नीति है जिसकी कुछ शक्तिशाली हितों द्वारा आक्रामक रूप से वकालत की जाती है और उसे लोगों के गले में जबरदस्ती उतारने का प्रयास किया जाता है। जिन पर इसे थोपा जाता है, उनसे अपेक्षा की जाती है कि वे असहाय होकर इसे स्वीकार कर लें। इसे वैश्वीकरण के दौर के सबसे चर्चित दो सूत्रीकरणों में देखा जा सकता है: देअर इज नो आल्टरनेटिव (टीना; कोई दूसरा विकल्प नहीं है), और इतिहास का अंत, यानी अब समाज का इसके आगे विकास संभव नहीं है।

आर्थिक दृष्टि से विचार किया जाए तो भूमंडलीकरण नव उदारवाद का ही एक रूप है, जिसके तहत उदारीकरण, नीजिकरण और भूमंडलीकरण साथ-साथ चलती हैं। भूमंडलीकरण के दायरे में

आनेवाले बाजारवाद और उपभोक्तावाद का गहरा प्रभाव हमारी विचारधारा, संस्कृति, इतिहासबोध पर पड़ रहा है। समकालीन कविता किसी भी और तत्व से अधिक भूमंडलीकरण की प्रक्रियाओं को दर्ज करने वाली कविता है। जिस अर्थ में छायावाद भारत में पूंजीवाद के आरंभिक दौर की कविता थी और प्रगतिवाद और नई कविता उत्तर-औपनिवेशिक दौर की कविता थी, समकालीन कविता मुख्यतः भूमंडलीकरण के दौर की कविता है। भूमंडलीकरण से पैदा हुआ बिखराव, विकल्पहीनता, विचार-विहीनता और अनैतिहासिक इतिहासबोध समकालीन कविता के मुख्य सरोकार हैं। जैसे कि चंद्रकांत देवताले की यह कविता, जो इस बिगड़े हुए इतिहासबोध पर टिप्पणी करती है:

‘और अब कितना भयानक है यह

रोशनी का इस कदर पाना

कि चीजें खिसक जाएं सब अपनी जगह से’¹

अगर हम परिभाषा के स्तर पर विचार करें तो समकालीन कविता का आशय एक ऐसी कविता से है, जिसने भूमंडलीकरण के प्रभाव को व्यक्त करने के लिए सबसे सटीक मुहावरे विकसित किए। समकालीन कविता व्यापक आर्थिक प्रक्रियाओं और उनके इंसानी जीवन पर पड़ रहे बारीक प्रभावों पर गौर करने वाली ऐसी कविता है, मौजूदा समाज में रच-बस गई शोषणकारी संरचनाओं की सीवन को अपने मुहावरों से उधेड़ कर रख देती है। इस संदर्भ में कुमार अंबुज और राजेश जोशी का नाम ऐसे कवियों में लिया जाना चाहिए, जिन्होंने फिक्र और मुहावरे के स्तर पर सबसे ज्यादा योगदान दिया है। मसलन, भूमंडलीकरण की बुनियाद में स्थित वित्त पूंजी के मानव द्रोही चरित्र के बारे में कुमार अंबुज की यह कविता:

‘हम चाहते हैं तुम हमारे साथ कुछ बेहतर सलूक करो

लेकिन जानते हैं तुम्हारी भी मुसीबत

कि इस सदी तक आते-आते

मनुष्यों के बजाय

वस्तुओं में बहुत अधिक निवेश कर दिया है।’²

भूमंडलीकरण एक जारी प्रक्रिया है और उसकी अनेक परतें अभी खुल ही रही हैं। शायद यही वजह है कि समकालीन कविता भी अभी एक विकसित होती हुई कविता है और उसमें कहीं पहुंचने का उतावलापन नहीं दिखाई देता, जैसा कि पूर्ववर्ती कविता की धाराओं में दिखता है। इस लिहाज से, समकालीन कविता एक लक्ष्यहीन यात्रा के लिए भी अभिशाप है। कम से कम अपने तीसरे दशक के अंत तक तो उसे देखते हुए यही लगता है।

2. बाजारवाद का चेहरा

बाजार की रचना समकालीन कविता की अपनी अनोखी बुनावट है। हिंदी में बाजार सिर्फ वह बाजार कभी नहीं रहा है, जहां सिर्फ खरीद-बेच ही होती हो। यह एक सार्वजनिक जगह रही है, घर से बाहर का वह दायरा जहां आप जोखिम उठा सकते हैं, जहां एकजुटता बनाई जानी है। कबीर जिस बाजार में खड़े थे, यह वही जगह थी। आज के चौराहे जैसी जगह। जैसा कि राजेश जोशी पाते हैं, आज बाजार की शक्ल बदल गई है:

‘बाजार एक मनुष्य विरोधी जगह में तब्दील हो गया है। हिंदी की आज की कविता में इस बाजार की शक्ल एक भयावह जगह की तरह है, एक खलनायक की तरह। लेकिन इसमें अपने उस बाजार की स्मृति नहीं है जो लोगों के बीच अपने सुख-दुख कहने-सुनने की जगह था। जहां जाना एक उमंग और उत्साह से भर देता था।’³

बाजार को लेकर यह उत्साह और उमंग वास्तविक जीवन में तो खत्म हुआ ही है, कविताओं और अन्य साहित्यिक रचनाओं से भी गायब हुआ है। फैंज जिस बाजार में जंजीर बंधे पैरों से भी चलने की चुनौती पेश करते थे, वह बाजार अब एक डर और बेबसी के बिंब में बदल गया है। राजेश जोशी के ही शब्दों में:

‘हजारों लोकगीतों में बाजार जाने की जो उमंग है, उसकी कोई स्मृति हमारी कविता में नहीं है, उसके छिन जाने की तकलीफ या उसका प्रतिरोध भी नहीं। इसलिए कभी-कभी नए बाजार की भयावहता भी उस तरह कविता में नहीं महसूस होती जैसी वह होनी चाहिए थी। बाजार का विरोध बहुत हद तक एक औपचारिक चलन की तरह महसूस होता है। विस्मृति प्रतिरोध को पंगु बना देती है।’⁴

आज का यह बाजार मनमोहन और कुमार अंबुज की कविताओं में आशंका की तरह आया हुआ बाजार है, जो मनुष्य की सारी उम्मीदों और कल्पनाओं को गल्ले में सजाए महाजन बना बैठा है। जैसे कि मनमोहन की ‘प्लास्टिक की खुशामद’:

‘स्मृतियां मिट जाएंगी
लेकिन प्लास्टिक रहेगा
और वे स्मृतियां जो प्लास्टिक की बनी हैं’⁵

कृत्रिमता और इतिहास के वंचित किए जाने की प्रक्रिया बाजार की एक सतत प्रक्रिया है, जिसका बिंब हिंदी कविता में उभरता है। बकौल राजेश जोशी, ‘आठवें दशक के जिस राजनीतिक और सांस्कृतिक दृश्य को मनमोहन ने अपनी कविता का एजेंडा बनाया था, वर्तमान दृश्य उसका सबसे भयावह विस्तार है। यह खुल्ले सांड की तरह दौड़ते मुक्त बाजार का समय है...’⁵

यह वो बाजार है, जहां मनुष्य के ऊपर यह फर्ज कर दिया गया है कि वह अपना सबकुछ इस बाजार के हवाले कर देगा, लुट जाएगा और इससे कभी मुक्त नहीं हो जाएगा, जैसा कि ब्रदीनारायण की कविता ‘बाजार का गीत’ इस परिघटना को दर्ज करती है:

‘जो कोई बाजार में आएगा
चार पैसे में बिकाएगा
पर दो ही पैसा पाएगा
दो तो दलाल ले जाएगा’⁶

बाजार हालांकि भूमंडलीकरण की देन नहीं है, बल्कि बाजार भूमंडलीकरण से बहुत पहले से मौजूद रहा है और उसके प्रति मनुष्य की आशंकाएं भी। लेकिन भूमंडलीकरण ने उन आशंकाओं को सजीव कर दिया है। अब बाजार के प्रति कोई भी मोह नहीं बचा है, जो भी है वह मोहभंग है। बाजार के प्रति समकालीन कविता का स्वर, अपनी पूर्ववर्ती कविता से कहीं अधिक तीखा और कहीं अधिक साफ है।

3. अस्मिता मूलक विमर्श और विमर्शों की राजनीति

अब तक का समाज गैर बराबरी पर आधारित विभाजनों का समाज रहा है। जैसा कि हमने अपने अब तक के अध्यायों देखा, इस विशेषता को संभव बनाने के लिए शक्ति के साथ-साथ, वर्चस्व की मदद ली जाती रही है। लेकिन इस वर्चस्व के बरअक्स प्रतिरोध की भी, उतनी ही पुरानी एक परंपरा है। जैसा कि फैंज कहते हैं: ‘न उनकी रस्म नई है न अपनी रीत नई’।

एक समाज या किसी समुदाय को गुलाम बनाए रखने के लिए उसके स्वतंत्र अस्तित्व को उससे छीन लिया जाता है: यह ऐसा ही है मानो उसके अस्तित्व को ही नकार दिया जाए। लेकिन भौतिक रूप से, जिस समुदाय को अधीन बनाया जाना है, उसके अस्तित्व को नकारना संभव नहीं है। इसलिए, इस साध्य को पूरा करने के लिए उसकी पहचान को नकार दिया जाता है, जो उसके अस्तित्व का अभिन्न हिस्सा है। पहचान को नकारने के क्रम में अनेक प्रक्रियाएं काम करती हैं: उस समुदाय से उसकी भाषा, उसका इतिहास और सामुदायिक स्मृतियां अलग कर दी जाती हैं। भाषा, संस्कृति, इतिहास और स्मृतियां ऐसे बुनियादी तत्व हैं, जिनसे एक समुदाय अपनी पहचान पाता है, क्योंकि ये उसके जीने और उसके अस्तित्व की प्रक्रियाओं की उपज और उसका साधन हैं। इसलिए किसी समाज की अपनी गति को बाधित करना है तो सबसे पहले उसे उसकी भाषा, संस्कृति, और इतिहास से काटना जरूरी है। यही वजह है, कि प्रतिरोध के संघर्षों का एक अहम हिस्सा अपनी पहचान पर दावा जताना होता है, जिसके

जरिए वे यह जताना चाहते हैं कि वे अपने अस्तित्व और अपने इतिहास के साथ, संस्कृति के अपने समग्र आयामों में वे कायम हैं और चूंकि उनका एक अतीत है, उनका एक भविष्य भी है, जिसे वे खुद रचना चाहते हैं।

भारतीय समाज संरचना एक बड़े वर्ग को गुलामों जैसी स्थिति में रखती आई है। इस वर्ग की संस्कृति, उसकी भाषा, उसके इतिहास और सामुदायिक स्मृतियों को न केवल नकारा जाता है, बल्कि उनको बाकी समाज की भाषा, इतिहास और स्मृतियों से अलगाव की स्थिति में रखा जाता है। यह सांस्कृतिक बनावट ऐसी है, जिसमें सिर्फ एक ही तबका, या जाति सभी ज्ञान, भाषाओं, इतिहासों और स्मृतियों की स्रोत और संरक्षक बताई जाती है। उसके अलावा शेष सभी के अस्तित्व को ही स्वीकार नहीं किया जाता।

इस पूरी व्यवस्था के इतने लंबे समय से टिके रहने और नए-नए रूपों में खुद को बनाए रखने के पीछे एक कारण यह भी है कि इसे दैवीय आधार दिया गया। इसके साथ 'मृत्यु के बाद के जीवन' की एक ऐसी अवधारणा जोड़ दी गई जिससे निकलना लगभग असंभव लगने लगा। हमारे समाज में पितृसत्ता का ढांचा भी जातिव्यवस्था से जुड़ा हुआ ही है। वर्णव्यवस्था में सबसे नीचा स्थान स्त्री का रखा गया। जातिव्यवस्था और पितृसत्ता ने लगभग सभी ऐतिहासिक अवस्थाओं में राजसत्ता को बुनियादी आधार प्रदान किया।

इस संरचना का असर इतना दूरगामी और प्रभावशाली है, कि जो समुदाय इसके बाहर हैं, या इसके द्वारा सुदूर अलगाव में रखे गए हैं, वे भी न तो इसके असर से बच सके हैं और न इसके शोषण से जैसे आदिवासी और धार्मिक अल्पसंख्यक जैसे कि मुसलमान, ईसाई, बौद्ध और अन्य धार्मिक समुदाय। इनमें आदिवासी समाज और मुसलमानों को एक विशेष उदाहरण के बतौर देखा जा सकता है, जो जातीय ढांचे के बाहर मौजूद ऐसे समुदाय हैं, जिनको जातीय ढांचे के हमलों से लगातार वास्ता पड़ता रहता है। इसकी प्रतिक्रिया में ये दोनों समुदाय अपनी अपनी अलग भाषाई और जातीय पहचानों को संरक्षित करने के लिए संघर्ष करते हैं।

हिंदी कविता में अस्मिता के विमर्श की शुरुआत अपनी पहचान को परिभाषित करने की इसी प्रक्रिया से हुई। हालांकि हीरा डोम की 'अछूत की शिकायत' जैसी गिनी-चुनी मगर महत्वपूर्ण कविताएं औपनिवेशिक दौर से ही आने लगी थीं, लेकिन यह प्रक्रिया सबसे अधिक समकालीन कविता के दौर में सामने आई, जब पहले स्त्री और दलित अस्मिताओं ने और आगे चल कर आदिवासी अस्मिता ने अपनी दावेदारी पेश की।

समग्रता में देखें तो मुख्य रूप से दलित, स्त्री और आदिवासियों की इतिहास में प्रतिरोध की एक लंबी परंपरा रही है। यही वजह है कि समकालीन कविता में, जब एक ओर भूमंडलीकृत आर्थिक और सांस्कृतिक हमलों ने उनके सामने अपनी अलग पहचान को बचाने और उसके लिए संघर्ष करने की चुनौती पेश की तो दूसरी ओर तेज शहरीकरण और गांवों से पलायन ने मध्यवर्ग में इजाफा किया जिसमें अच्छी खासी तादाद इन तबकों से आने वाले लोगों की भी थी। इन्होंने अपनी बातें कहने और अपनी पहचान के प्रति सरोकारों के प्रति सजग

होने के मौके और सुविधा दी। समकालीन कविता के दौर की व्यापकता, और इसके भीतर के मध्यवर्गीय सरोकारों को भूमंडलीकरण के दौर में तेज हुए शहरीकरण और गांवों से पलायन की इस प्रक्रिया से जोड़ कर भी देखना चाहिए। वो सारी आवाजें जो अब तक हाशिए पर थीं, कविता में सुनाई देने लगीं और नए साहित्य और सौंदर्य के नए विमर्शों को जन्म दिया। 90 के शुरुआती दशक में अस्मिता विमर्श पर बात की जाने लगी। इसके बाद से, हिंदी कविता में यह बहस का केंद्रीय मुद्दा बना हुआ है। इसकी एक वजह ये भी है कि अस्मिता सिर्फ एक बार तय होने वाली चीज नहीं है बल्कि यह हमेशा खुद को नए संदर्भों में फिर-फिर से परिभाषित करती चलती है। जैसा कि ब्रदीनारायण कहते हैं, 'अस्मिता का निर्माण हमेशा परिप्रेक्ष्यों व संदर्भों से होता है तथा हमेशा बदलता रहता है। यह एक बहुत लोचमयी संरचना है। इसमें दोस्त व दुश्मन हमेशा बदलते रहते हैं। इसमें कथा की, कल्पना की बहुत छूट है।'⁷ ब्रदीनारायण जिस अस्मिता की बात करते हैं वह समाज में मौजूद हमेशा से रहे संघर्ष को तो दिखाती है, वह ये भी दिखाती है कि कैसे हमेशा से अस्मिताएं बदलती स्थितियों के लिहाज से बदलती हुई पहचान के रूप में देखी जाती रही हैं। वह ये भी दिखाती है, कि कैसे एक वर्ग अपने हितों के लिए बाकी तबकों को हीनता के गर्त में धकेलता रहा है।

भूमंडलीकरण के दौर में इस प्रक्रिया के तेज होने की वजह ये है कि भूमंडलीकरण, पूंजीपति देशों का आर्थिक, सांस्कृतिक, बौद्धिक और सुरक्षात्मक अधिनायकत्व है, जो गरीब देशों की अस्मिता और वैविध्य को नष्ट करता है।

‘तुम्हारी अहिंसा का

सहारा ले

दमित हैं

शोषित हैं

अब तक

अपनी रक्षा के लिए

कम अज कम

हमें हथियार तो उठाने दो'⁸

पिछले तीस बरसों में, और खास कर पिछले बीस वर्षों की दलित कविता को देखते हुए यह जाहिर होता है कि दलित कविता ने एक नए सामाजिक तथा राजनीतिक व्यक्तित्व की तलाश की संभावनाएं तलाशी हैं तथा एक नए इंसान और नए सामाजिक संबंधों की कल्पना और इसके विकल्पों को पेश किया है। हालांकि इसी बीच यह भी हुआ है कि तेजी के साथ बहसों से वर्ग बेदखल हुआ है और इनके बदले में जातियां और समुदाय बहसों के केंद्र में आ गए हैं।

आज की समकालीन कविता बुनियादी तौर पर भूमंडलीकरण के विरोध की कविता है, जिसके लिए इसने सटीक मुहावरों की खोज की है। इसी के साथ समकालीन कविता में बाजार के विरुद्ध मुखरता भी उतनी ही स्पष्ट और गहरी है। जहां तक वर्चस्व के जातीय रूपों की बात है, समकालीन कविता को अभी बाकायदे शुरुआत करनी है।

हालांकि दलित कविता जाति-विरोधी वैचारिकी में काफी आगे तक गई है और समकालीन कविता अभी इस राह में कोई उल्लेखनीय कदम तक नहीं उठा सकी है। विमर्शों के तहत दलित कविता समकालीन कविता से जितनी बेदखल दिखती है, स्त्री अस्मिता को उसके मुकाबले कहीं ज्यादा उल्लेखनीय रूप से स्थान हासिल है। हालांकि समकालीन कविता को अब भी एक मुकम्मल पितृसत्ता विरोधी नजरिए को गढ़ने की जरूरत बहुत साफ दिखती है। आदिवासी कविता हालांकि बहुत बाद में शुरू हुई, लेकिन उसमें दलित और स्त्री विमर्श की कविताओं के मुकाबले कहीं अधिक स्पष्टता और धार है। वह कहीं अधिक गहराई लिए हुए है और अपनी संस्कृति की प्रतिनिधि कविता है। समकालीन कविता में सांप्रदायिकता एक गंभीर चिंता के रूप में आती है और यह चिंता इसका एक मुख्य स्वर भी है, लेकिन जाति के केंद्र में रख कर इस सवाल को नहीं देखने के चलते इसका चरित्र इकहरा और सरलीकृत बना हुआ है।

संदर्भ सूची

1. चंद्रकांत देवताले, 'तुम्हारे शब्द', लकड़बग्घा हंस रहा है, पृ.19।
2. कुमार अंबुज, 'नयी सभ्यता की मुसीबत', अमीरी रेखा, पृ.56।
3. राजेश जोशी, एक कवि की दूसरी नोटबुक, पृ.114।
4. वही।
5. मनमोहन, 'प्लास्टिक की खुशामद', जिल्लत की रोटी, पृ.39।
6. वही, पृ.192।
7. बद्रीनारायण, 'बाजार का गीत', शब्दपदीयम्, पृ.50।
8. बद्रीनारायण, प्रतिरोध की संस्कृति, पृ.87।
9. वही।